क्या सीखा, कैसे सिखाया?

पायल यादव और कृष्ण कुमार

एक विद्यार्थी और एक शिक्षक द्वारा संयुक्त रूप से लिखे गए आलेख का ध्येय साफ किन्तु अनोखा है। सीखने के लिए अधिगम शब्द का प्रयोग होने लगा है जिसकी एक बड़ी व्यंजना मनोवैज्ञानिक है। यह सही है कि सीखने में मानसिक प्रयास की भूमिका का महत्त्व है, इसलिए सिखाने वाले को विद्यार्थी की मानसिक तैयारी पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पर इस तैयारी का आम विमर्श भटकने की आजादी को खोज के अनिवार्य तत्वों में शामिल नहीं करता। इस संयुक्त आलेख में एम.एड. के लिए लिखे गए शोधग्रंथ की तैयारी का बयान इस कमी को पूरा करता है।

शिक्षक का बयान

हर वर्ष मुझे एम.एड. के दो विद्यार्थी दिए जाते हैं। इनसे एक छोटा शोधग्रंथ लिखवाना मेरी जिम्मेदारी होती है। किसी समस्या पर शोध करने और अपने शोध को साठ-सत्तर पृष्ठों में प्रस्तुत करने के लिए इन छात्रों के पास समय बहुत कम होता है। शुरुआत में पहली समस्या काफी कठिन किस्म की होती है कि एक संक्षिप्त शोध के लायक प्रश्न कैसे रचें। अक्सर विद्यार्थी बड़ी-बड़ी समस्याएं शोध के जरिए सुलझाना चाहते हैं। उन्हें अंदाजा नहीं होता कि शोध के लिए चुनी गई समस्या का हल वास्तविक संसार में व्याप्त समस्या का हल नहीं हो सकता। कई छात्र यह सुनकर कुछ निराश हो जाते हैं कि शोध के संदर्भ में 'समस्या के हल' से आशय समस्या को बेहतर समझने से है, उसे हल या दूर करने से नहीं।

पायल की रुचि स्कूल की संस्कृति में थी। उसने इस संबंध में जो भी पढ़ या सुन रखा था, उसे जानकर मुझे लगा कि वह स्कूल की संस्कृति को विचारधारा से जोड़कर देखती है। वैसे यह बात गलत नहीं है कि संस्कृति और विचारधारा में संबंध होता है, पर यह एक बेहद जटिल संबंध है और इसे समझने से पहले संस्कृति की रचना में निहित और लगातार सक्रिय रहने वाले तत्वों की पहचान करना जरूरी है। एक महत्त्वपूर्ण तत्व है माहौल।

पायल से हुई पहली बातचीत में ही मुझे लगा कि उसे 'माहौल' की अवधारणा पर पकड़ बनानी होगी। यदि वह पी.एच.डी. की छात्रा होती तो छः-आठ महीने इसी काम के लिए दिए जा सकते थे, पर पायल के पास एम.एड. के चंद महीने थे और उनमें भी कई पर्चों की नियमित कक्षाएं समय मांगती थीं। ऐसी परिस्थिति में मुझे लगा कि साहित्य के जरिए 'माहौल' की त्वरित समझ प्राप्त की जा सकती है। 'काला जल' (शानी) और 'राग दरबारी' पढ़ने का सुझाव देते समय मुझे लग रहा था कि यह एक प्रयोग है जिसे करके देख लेना

चाहिए। पायल जब 'काला जल' की समीक्षा लिखकर लाई तो मुझे लगा कि प्रयोग विफल रहा। समीक्षा एकदम साहित्यिक अंदाज में लिखी गई थी। मैंने अपना असंतोष जताया और 'काला जल' पढ़ने के सुझाव का उद्देश्य दोबारा बताया तो पायल तुरन्त अपनी समीक्षा दोबारा लिखने के लिए व्यग्र हो गई। उसका लिखा दूसरा प्रारूप इस शोध की कहानी का निर्णायक मोड़ था। इस प्रारूप में उसने 'काला जल' के घुटन भरे माहौल के तत्व पहचानने का प्रयास किया था। 'राग दरबारी' पर लिखा पायल का पहला प्रारूप ही यह मान लेने के लिए पर्याप्त था कि वह 'माहौल' की अवधारणा की गहराइयों में पहुंच चुकी थी या उन्हें देखने में समर्थ हो गई थी।

शिक्षक के रूप में हमेशा मैं कौशलों के विकास पर जोर देता हूं। ज्ञान तो विद्यार्थी खुद प्राप्त कर सकता है, पर कौशलों और आदतों के विकास के लिए शिक्षक की जरूरत होती है। 'माहौल' की अवधारणा की रचना पायल के मानस में हो जाने के बाद मैंने उसे स्कूल के संदर्भ की परिचित भूमि की तरफ वापस आने की इजाजत दी। उसने स्वयं दो स्कूलों का चुनाव किया, वहां जाने के लिए समय और देखने के लिए पहलू तय किए। विद्यार्थी में उत्साह हो तो शिक्षक निश्चिंत हो जाता है। स्कूलों का अनुभव शुरू में इतना विस्तृत लगता था कि एम.एड. की समय-सीमा में विषय के साथ कोई न्याय नहीं किया जा सकता। हर बार की मुलाकात में प्रश्नों का दायरा घटा और शोध को सार्थक और संभव बनाने की संभावना बढ़ी। इस बीच पायल रेमण्ड विलियम्स का एक शोध स्वयं ढूंढ़कर लाई। यह कोई साधारण घटना नहीं थी। छात्रों में यह प्रवृत्ति अब आम हो चुकी है कि वे बताए गए लेखक व शीर्षक पढ़ लेते हैं, स्वयं कोई नए नाम नहीं ढूंढ़ते। नए अर्थात् अपने लिए अपरिचित नाम ढूंढ़ना, फिर पढ़कर तय करना कि उनमें दम है या नहीं; शोध के सबसे बड़े कौशलों में से है। उन्हें पढ़ना और पढ़कर समझना पूरी तरह पायल की उपलब्धि रही। स्टेनहाऊस की पुस्तक मैंने सुझाई अवश्य, पर उसे गंभीरता से लेना और भारतीय संदर्भ में व्याख्या के जरिए ढालना पूरी तरह पायल ने किया।

अब बचे लेखन और प्रस्तुति के कौशल। हमारी उच्च शिक्षा में इन कौशलों की अवहेलना आम बात है। छात्र के आलेख पर टिप्पणी करना, सुधार देना, प्रश्न चिन्ह लगाना, उस पर चर्चा करना, आदि लेखन को तराशने के लिए जरूरी कौशल हैं। पायल ने इन्हें लगन से ग्रहण किया और अपने काम का संपादन स्वयं करने का बीड़ा उठाया। स्कूलों में उसने कई तरह के अवलोकन किए थे। उनके आधार पर तैयार किए गए विवरणों को चुस्त बनाने में मेरी यही भूमिका रही कि मैं सवाल उठाता रहा। भाषा की दृष्टि से पायल यादव की दक्षताएं पहले से मजबूत थीं। मैंने इस मजबूती का लाभ उठाकर उसके लेखन की शैली को तराशने और अधिकाधिक तर्कसंगत बनाने की कोशिश की। इस कोशिश की सफलता का श्रेय उसकी मेहनत को जाता है। मेरे हिस्से सिर्फ खुशी आती है।

विद्यार्थी का बयान

एक वयस्क शोधार्थी के रूप में मैंने चीजों को कैसे ग्रहण किया? मेरे अध्यापक (पर्यवेक्षक) ने मुझे कैसे सिखाया? अपनी समझ की सीमाओं का विस्तार मैंने कैसे किया? पुराने ज्ञान की पुनर्रचना मैंने कैसे की? अपने एम.एड. कोर्स के दौरान किए गए शोध के अनुभवों के आलोक में ऐसे ही कुछ प्रश्नों के उत्तर तलाशने का प्रयास मैंने इस लेख के माध्यम से किया है। शोध का केंद्रीय विषय विद्यालयों में होने वाली प्रार्थना सभा के माध्यम से विद्यालय की संस्कृति को समझना था।

इस लेख में दो थीम उभरकर आती हैं। पहली थीम है शोध की यात्रा का 'व्यवस्थित' पक्ष यानी क्रमवार विकास, जिसमें शोध विषय का चुनाव उसके बाद संबंधित साहित्यिक समीक्षा, उसके बाद आंकड़ों को इकट्ठा करना आदि सोपान शामिल हैं। दूसरी थीम है शोध की यात्रा का 'भटकावों' द्वारा विकास। इस थीम के अंतर्गत वे सभी अनुभव शामिल हैं जब शोध करते हुए विभिन्न भटकावों का सामना मैंने किया। साथ ही उन भटकावों से मैंने क्या सीखा? मेरी इस शोध यात्रा का अनुभव काफी रोमांचक एवं रुचिकर होने के साथ-साथ काफी चुनौतीपूर्ण भी रहा। इस पूरी यात्रा के दौरान मेरे मानस में निरंतर प्रश्न उठे, बहुत से पहलुओं को लेकर भटकाव हुआ, मौखिक एवं लिखित तौर पर चर्चाएं हुईं। इस पूरे सिलसिले में निरंतर मैंने अपने ज्ञान की पुनर्रचना की।

सामान्यतः 'भटकाव' शब्द की अनुगूंज काफी नकारात्मक तरीके से होती है लेकिन बौद्धिक स्तर पर भटकाव की क्या भूमिका होती है, यह समझने के लिए इस लेख में इस पहलू पर चर्चा करना आवश्यक है। मेरे लिए इस शब्द का वर्णन करना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि सामान्यतः शैक्षिक शोध की किताबों में शोध करने के निश्चित क्रमों का वर्णन किया जाता है लेकिन भटकावों से होने वाले विकास का वर्णन न के बराबर होता है। स्कूल, कॉलजों आदि में भी विद्यार्थियों को इतने अवसर नहीं मिल पाते हैं कि वे लीक से हटकर काम कर पाएं। इसका एक कारण तो भटकाव से सीखना ज्यादा समय लेने वाली प्रक्रिया है। साथ ही अध्यापक विद्यार्थियों पर इतना भरोसा नहीं दिखा पाते कि वे भटक कर भी कुछ सीख पाएंगे। इसलिए सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में थोड़ा-बहुत भटकाव होते ही विद्यार्थी और अध्यापक दोनों घबरा जाते हैं।

एम.एड. कोर्स में 'शोध कार्य' पाठ्यचर्या का अहम् हिस्सा था। हमें बताया गया था कि किसी समस्या या दृढ़ कथन को लेकर हमें शोध करना है। मैं स्कूली जीवन के किसी ऐसे पक्ष पर शोध करना चाहती थी जिसे लेकर मेरे मानस में प्रश्न उठते हों और जिसके बारे में जानने में मेरी रुचि हो। बी.एल.एड. कोर्स के अनुभवों[1] व डी.यू. इनोवेटिव प्रोजेक्ट के दौरान विभिन्न जोन के प्राथमिक विद्यालयों में किए गए शोध के अनुभवों[2] ने इस शोध की पृष्ठभूमि तैयार की।

बी.एल.एड. के दौरान विभिन्न वर्षों में मुझे प्राथमिक विद्यालयों में जाने का अवसर मिला। इस दौरान शिक्षण के साथ-साथ अवलोकन, अध्यापकों का साक्षात्कार लेने, क्राफ्ट, नाट्य आदि गतिविधियां कराने, विद्यालय की विभिन्न प्रणालियों के विषय में जानने का अवसर मिला। साथ ही वाराणसी में स्थापित नवाचारी स्कूल 'राजघाट बेसेंट' में भी एक सप्ताह के लिए जाने का अवसर प्राप्त हुआ। इनोवेटिव प्रोजेक्ट के दौरान मुझे प्राथमिक विद्यालयों में बढ़ती छात्र-अनुपस्थिति की प्रवृत्ति से संबंधित कारणों पर शोध करना था।

इन अनुभवों के दौरान मैंने देखा कि विद्यालयों में भिन्न-भिन्न प्रकार की गतिविधियां आयोजित की जाती थीं, जिसके कारण हर विद्यालय में बनने वाला माहौल काफी अलग था। साथ ही समान प्रकार की गतिविधियां होते हुए भी उन्हें कराने का तरीका काफी भिन्न था। यह भिन्नता हर विद्यालय में मुझे अलग तरह की अनुभूति दे रही थी। उदाहरण के तौर पर, केंद्रीय विद्यालयों में पूरे एक वार्षिक सत्र में 25-30 गतिविधियां (सह-पाठ्यगामी क्रियाओं के तौर पर) कराई जाती थीं। वर्ष की शुरुआत में ही गतिविधियों का एक निश्चित चार्ट तिथिवार तैयार कर लिया जाता था। कुछ गतिविधियां थी- फेंसी ड्रैस कॉम्पटीशन, सेनीटेशन डे, ग्रांडपेरेन्ट डे, आदि।

राजघाट बेसेंट स्कूल में जिमनास्टिक, लकड़ी, मिट्टी आदि की वस्तुएं बनाना, जैसी गतिविधियां होती थीं। प्रार्थना एक ढके हुए सभागार में बिठाकर करवाई जाती थी। दिल्ली के एम.सी.डी. स्कूलों की यदि बात करें तो मुख्य पाठ्य-सहगामी क्रियाएं- गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस आदि देखने को मिले।

मुझे अनुभव हुआ कि कुछ विद्यालयों में पाठ्य-सहगामी क्रियाएं ज्यादा तो कुछ में तुलनात्मक रूप से कम होती थीं। साथ ही कराई जाने वाली गतिविधियों के प्रकार भी काफी भिन्न थे। उस समय मेरे मानस में कुछ प्रश्न थे कि ऐसा क्यों है? बी.एल.एड. के दौरान ही मैंने यह पढ़ा था कि विभिन्न विषय जैसे- गणित, विज्ञान, आदि की विषय-सामग्री में कई समस्याएं एवं छिपे हुए मुद्दे होते हैं। जैसे, जेंडर संबंधी पूर्वाग्रह। यह चर्चा कई बार होती है कि किस प्रकार

---

1. बैचलर ऑफ एलिमेंट्री एजुकेशन, चार वर्ष का व्यावसायिक डिग्री कार्यक्रम है जो प्रारंभिक (आठवीं तक की) कक्षाओं में पढ़ाने के लिए छात्राओं को प्रशिक्षित करता है। इसमें उच्चतर माध्यमिक (12वीं या समकक्ष) स्तर की स्कूली शिक्षा के बाद प्रवेश मिलता है। इस कार्यक्रम में विभिन्न विषयों का ज्ञान, मानव विकास, शिक्षाशास्त्र तथा संप्रेषण कौशलों का समन्वित ज्ञान दिया जाता है। इस कार्यक्रम में विभिन्न अनिवार्य और वैकल्पिक थ्योरी पाठ्यचर्या और अभ्यासक्रम, अनिवार्य अभ्यासक्रम तथा अभ्यास शिक्षण शामिल हैं।

2. डी.यू. इनोवेटिव प्रोजेक्ट की शुरुआत 2012-2013 के सत्र से दिल्ली विश्वविद्यालय में अंडरग्रेजुएट स्तर के विद्यार्थियों में शोध एवं प्रोजेक्ट्स के लिए की गई।

कक्षा के अंदर पढ़ाए जाने वाले विषय कुछ खास मूल्यों से निर्देशित होते हैं। लेकिन उन क्रियाओं का क्या, जो कक्षा के अंदर नहीं अपितु कक्षा के बाहर विद्यालय के शेष प्रांगण से जुड़ी हुई हैं।

विभिन्न स्कूलों के अनुभवों से मेरी यह जानने की उत्सुकता और भी तीव्र हो चुकी थी कि क्या ये गतिविधियां जिन्हें हम वर्तमान शैक्षणिक संदर्भ में सह-पाठ्यगामी क्रियाएं कह देते हैं, भी अपने में कुछ छिपे हुए अर्थ समेटे हुए हैं? इन्हीं सब मिले-जुले अनुभवों ने मुझे प्रेरित किया कि मैं विद्यालयों में होने वाली पाठ्य-सहगामी क्रियाओं का अध्ययन करूं।

शोध के अपने पहले ड्राफ्ट में मैंने इन्हीं प्रारंभिक विचारों के साथ एक खाका तैयार करके सर को दिया। इस ड्राफ्ट पर जब सर के साथ पहली बार चर्चा हुई तो सबसे पहले शोध विषय को लेकर विचार-विमर्श हुआ। पहले ड्राफ्ट में मैंने विषय के तौर पर यह कथन लिखा था कि 'पाठ्य-सहगामी क्रियाओं से विद्यालयों की विचारधारा' को समझना। सर से बातचीत करते समय यह बिंदु सामने आया कि क्या 'विचारधारा' शब्द का प्रयोग करना सही है? विचारधारा शब्द सांकेतिक तौर पर एक नकारात्मक छवि देता है, साथ ही शोध के मुख्य विषय के तौर पर इसका प्रयोग पूर्वाग्रह से ग्रसित लगता है। समस्या यह थी कि क्या 'विचारधारा' शब्द के स्थान पर कोई अन्य संतुलित शब्द प्रयोग में लाया जा सकता है? सर ने मुझे सुझाव दिया कि 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग सही रहेगा। क्योंकि एक तो यह शब्द अधिक संतुलित है साथ ही संदर्भ से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।

संस्कृति की संकल्पना एक वृहत् एवं जटिल संकल्पना है। क्या विद्यालय की संपूर्ण संस्कृति को सीमित समय में समझा जा सकता है? स्कूली संदर्भ में संस्कृति को कैसे समझा जाएगा? क्या कोई एक गतिविधि या कुछ गतिविधियां चुनी जाएं? आदि प्रश्न उठे। चर्चाओं से यह स्पष्टता आ गई थी कि विद्यालय की संस्कृति का अध्ययन करना है लेकिन विद्यालय की संस्कृति के भी दो रूप- लिखित एवं वास्तविक- होते हैं (इनके विस्तृत वर्णन की विवेचना जुलाई-अगस्त, 2014, शिक्षा विमर्श के अंक में की जा चुकी है)।

संस्कृति के वास्तविक पक्ष का अध्ययन करने का निर्णय लिया गया। एक दिन चर्चा के दौरान सर ने मुझसे पूछा कि 'संस्कृति को मैं कैसे समझूंगी?' मेरा उत्तर था कि मैं विभिन्न गतिविधियों का अवलोकन करके उन्हें लिखूंगी। सर ने फिर पूछा, लेकिन यह तो वर्णन मात्र होगा। इससे संस्कृति का पता कैसे चलेगा?

मुझे समझ नहीं आ रहा था कि मैं विभिन्न गतिविधियों से 'विद्यालय की संस्कृति' के पक्ष को उजागर कैसे करूंगी? सर ने मुझे समझाने के लिए एक उदाहरण दिया। उदाहरण था, 'कल्पना कीजिए कि आप कमरे में बैठी हैं। वह कमरा काफी जर्जर, धूल भरा है, काफी जाले लगे हैं, दीवारों में दरारें आई हुई हैं।' इसके बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि इस कमरे की संस्कृति कैसी है? मैंने उत्तर दिया- टूटा है, पुराना है... आदि। लेकिन ये केवल भौतिक पक्ष थे। मैं संस्कृति के विषय में कुछ भी स्पष्टता से नहीं कह पा रही थी। यह पहलू अभी भी मेरे लिए अबूझ और अस्पष्ट बना हुआ था।

सर ने मुझे 'काला जल' (शानी लिखित) उपन्यास पढ़ने की सलाह दी। शुरुआत में मुझे यह काफी अटपटा लगा कि शोध में उपन्यास का क्या काम! लेकिन 20-25 दिन के परिश्रम के बाद मुझे सर के इस सुझाव की सार्थकता समझ आई। सर ने मुझे सुझाव दिया कि मैं इसे पढ़कर इसमें वर्णित समाज एवं विभिन्न घटनाओं को 'संस्कृति' के नजरिए से समझने का प्रयास करूं। पहली बार में जब मैंने इस उपन्यास को पढ़ा तो वह साहित्यिक दृष्टिकोण से समीक्षा मात्र होकर रह गई।

'काला जल' को पहली बार पढ़ने के बाद मैं 'संस्कृति' के पक्ष को उजागर नहीं कर पा रही थी। सर ने मुझे समझाया कि किसी समाज में होने वाली विभिन्न घटनाएं एवं स्थान उस समाज विशेष में विभिन्न माहौल बनाते हैं। इन माहौलों की अनुभूति मुझे जिन प्रतीकों, चिन्हों से होती है, वही उस समाज की संस्कृति है। उन्होंने बताया कि मुझे उन बिंदुओं को उजागर करना है जिनसे समाज विशेष की संस्कृति की एक झलक मेरे मस्तिष्क में बन रही है।

इस चर्चा के बाद उसी दिन सर ने मुझे एक अन्य उपन्यास पढ़ने की सलाह दी। यह उपन्यास था श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी'। मैंने 'राग दरबारी' पढ़ा और मुझे लगा कि हो सकता है किसी अन्य समाज को समझने से संस्कृति की तस्वीर कुछ स्पष्ट हो पाए। जब मैंने 'राग दरबारी' पूरा पढ़ लिया तो तस्वीर कुछ स्पष्ट होने लगी कि दोनों उपन्यासों में वर्णित समाजों में जटिलता एवं घुटन है। लेकिन दोनों में वर्णित घटनाओं की जटिलताएं अलग-अलग किस्म की हैं। अब मुझे यह समझ आ गया था कि यह भिन्नता की अनुभूति ही वह पक्ष है जो समाज विशेष को अनोखा व दूसरे से अलग बना रहा है।

उदाहरण के तौर पर, 'काला जल' में मनुष्य की प्रकृति के छूटे, अवरुद्ध, दिशाहीन होने के संकेत सुनार-सुनारिन के झगड़े, मिर्जा और बिट्टी रौताईन आदि पात्रों के आपसी संबंधों में देखने को मिलते हैं। 'काला जल' में वर्णित समाज में मर्यादाओं से घिरे रिश्ते हैं जिनके लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता व इच्छाओं की बलि देना मानो एक सहज-सी बात हो गई है। वहीं दूसरी ओर 'राग दरबारी' में एक ऐसे समाज का वर्णन है जो गांव की सीधी-सादी धारणा को तोड़ता है। उपन्यास में आम आदमी की समस्याओं का यथार्थ चित्रण है। इस उपन्यास में आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था में व्याप्त लालफीताशाही की झलक देखने को मिलती है। यहां से मुझे स्पष्ट हो गया था कि दोनों उपन्यासों के समाज अलग हैं क्योंकि दोनों में निहित संस्कृति अलग-अलग है। यह पक्ष समझ लेने के पश्चात् मैंने 'काला जल' पुनः पढ़ा।

अब मैं उन पक्षों को चिन्हित कर पाई जिनके द्वारा 'काला जल' में वर्णित समाज की छवि मुझ तक पहुंच रही थी। इस प्रकार दो उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन से यह समझ विकसित हो पाई कि किसी क्रिया या पहलू की संस्कृति को कैसे समझा जा सकता है। इस शोध की एक दिलचस्प बात यह रही कि संस्कृति व इसमें बनने वाले माहौलों की समझ विकसित करने हेतु साहित्यिक कृतियों का प्रयोग किया गया। इस पूरी प्रक्रिया में 20-25 दिन का समय लगा।

इतनी प्रारंभिक समझ विकसित करने के बाद मैंने सबसे पहले राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 को पढ़ा ताकि 'पाठ्यचर्या' की एक आधारभूत समझ विकसित हो पाए। यह दस्तावेज सह-पाठ्यगामी क्रियाओं को पाठ्यचर्या का एक अभिन्न अंग मानता है। साथ ही स्कूली संदर्भ में इन क्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में आने वाली चुनौतियों को भी महसूस करता है। अपने विभाग के पुस्तकालय में मुझे लॉरेंस स्टेनहाउस की 'एन इन्ट्रोडेक्शन टू करिक्युलम रिसर्च एण्ड डवलपमेंट' नामक पुस्तक मिली। इसमें शोध से संबंधित कुछ बिंदु मुझे काफी उपयोगी लगे। स्टेनहाउस स्कूलों को शोध का एक मुख्य स्थान मानते हैं तथा अध्यापक को न केवल सिखाने वाले की भूमिका में देखते हैं बल्कि उसे एक शोधकर्ता के रूप में देखते हैं। इसी पुस्तक के 'संदर्भ' से मुझे स्टेनहाउस की एक अन्य पुस्तक 'कल्चर एण्ड एज्युकेशन' का पता चला। यह पुस्तक भी काफी उपयोगी रही। इस पुस्तक को पढ़ने से यह समझने में सहायता मिली कि कैसे स्टेनहाउस संस्कृति को स्कूली संदर्भ में देखने का प्रयास करते हैं।

लेकिन इन पुस्तकों को पढ़ने में काफी समस्याएं भी आईं। पहली तो यह कि स्टेनहाउस के लेखन का फोकस वे स्कूल थे जो भारतीय स्कूलों के संदर्भ से अलग थे। दूसरा, ये दोनों ही पुस्तकें केवल अंग्रेजी में उपलब्ध थीं। इन्हें अच्छी तरह समझने के लिए मुझे इन्हें 3-4 बार पढ़ना पड़ा। हिन्दी माध्यम की विद्यार्थी होने के कारण 1-2 बार पढ़कर मैं इन्हें ठीक तरह नहीं समझ पा रही थी। भाषा को लेकर एक तरह की समस्या मेरे सामने आई। पुस्तक की संकल्पनाओं व शब्दों का जब मैंने हिंदी में अनुवाद किया तो वह समान अर्थ व संकेत अनुवादित शब्दों से नहीं मिल पा रहे थे जो मूल शब्द में था।

मेरे लिए यह चुनौती थी कि क्या मैं ये शब्द अंग्रेजी में ही लिख दूं या अनुवाद करके लिखूं। सर ने मुझे सुझाव दिया कि इस समस्या से बचने के लिए मैं हिंदी में लिखकर अनुवादित शब्दों या संकल्पनाओं को पाठकों को समझाने हेतु उदाहरण या अतिरिक्त विवेचना का प्रयोग करूं। मैंने यही तरीका अपनाया जैसे, स्टेनहाउस अपनी पहली पुस्तक में संदर्भ समूह (यानी Refrence Groups) की संकल्पना का प्रयोग करते हैं। लेकिन इन समूहों से क्या तात्पर्य है तथा कौनसे संदर्भ की बात स्टेनहाउस इस संकल्पना में कर रहे हैं, यह पाठकों को समझाना आवश्यक था। इसके लिए मुझे यह विवेचना लिखनी पड़ी कि यहां संदर्भ समूह से अभिप्राय वे समूह हैं जो ज्ञान, कौशल एवं मूल्यों का सृजन तथा निर्धारण करते हैं।

बी.एल.एड. के दौरान मैंने जॉन ड्यूई के विचारों को पढ़ा था। वे वातावरण को एक उपयोगी माध्यम मानते हैं। मुझे लगा कि हो सकता है ड्यूई के विचारों से मुझे विद्यालय की संस्कृति का कुछ और स्पष्ट अंदाजा लग पाए। इसके लिए मैंने उनकी दो पुस्तकें 'डमोक्रेसी एण्ड एज्युकेशन' और 'द चाइल्ड एण्ड करिक्युलम' पढ़ीं। इससे विद्यालय के वातावरण की समझ विकसित करने में मुझे सहायता मिली। अभी तक के विचार उपयोगी होने के साथ-साथ गैर-भारतीय स्कूलों के संदर्भ के थे। मेरे लिए आवश्यक था कि भारतीय संदर्भ की झलक भी मैं प्राप्त करूं। इसके लिए पद्‌मा सारंगपाणी, मीनाक्षी थापन आदि के संदर्भ उपयोगी साबित हुए। अन्य संदर्भों का वर्णन भी आगे लेख में किया गया है।

'संस्कृति' की संकल्पना के लिए मैंने विशेषतः रेमण्ड विलियम्स, बोर्द्‌यु (विशेषकर है हैबिट्स की संकल्पना) आदि को पढ़ा। इनमें से रेमण्ड विलियम्स के विचारों को मैंने शोध के अनुरूप अधिक उपयोगी पाया। विलियम्स संस्कृति का कोई निश्चित व सीमित अर्थ नहीं बताते। वे मानते हैं कि संस्कृति का अर्थ समय एवं संदर्भ के साथ-साथ बदलता रहता है। उनके विचारों को बेहतर ढंग से समझने के लिए मैंने उनके लेख 'कल्चर इज ऑर्डिनरी' की सहायता ली। इस लेख के माध्यम से वे स्पष्ट करते हैं कि संस्कृति सामान्य जीवन से जुड़ी हुई है। अभी तक की समझ से यह स्पष्ट था कि संस्कृति को बेहतर तरीके से तभी समझा जा सकता है जब इसके व्यवहारगत पक्षों पर फोकस किया जाए।

अगली चुनौती यह थी कि कौनसी गतिविधियों का चुनाव किया जाए कि स्कूली संस्कृति की झलक मिल सके। मैंने तीन स्कूलों का चुनाव किया तथा प्रत्येक में 1-2 दिन (पूरी दिनचर्या का अवलोकन) व्यतीत करके यह जानने का प्रयास किया कि कौन-कौनसे स्थानों से विद्यालय का सांस्कृति पक्ष उजागर हो सकता है। जैसे, पीने के पानी का स्थान, प्रार्थना सभा आदि। समय की कमी एवं अवलोकन समय को ध्यान में रखते हुए 'प्रार्थना सभा का चुनाव' किया गया। प्रार्थना सभा की आधारभूत व पृष्ठभूमि की समझ विकसित करने हेतु कृष्ण कुमार के तीन लेखों- 'प्रार्थनाः एक शैली', 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' एवं 'स्कूल का शासनतंत्र और अध्यापक' को आधार बनाया।

अब यह जरूरी था कि आंकड़े एकत्रित करने के लिए ऐसी तकनीक का चुनाव किया जाए जिससे प्रार्थना सभा के व्यवहारिक पक्ष का पता लग सके। कुछ प्रश्न मेरे मानस में उठे- क्या अध्यापकों से विद्यालय के प्रार्थना सभा के माहौल के विषय में पूछा जा सकता है? क्या यह विश्वसनीय होगा? प्रयोग के तौर पर जब कुछ अध्यापकों से पूछा गया तो प्रार्थना सभा का विवरण मात्र प्राप्त हुआ। मुझे उन बारिकियों की दरकार थी जो प्रार्थना सभा के दौरान एक खास तरह का माहौल रचती हैं। अंततः अवलोकन विवरण व अवलोकन अनुसूची के माध्यम से यह कार्य संपन्न किया गया, जिन्हें मैंने विभिन्न स्कूलों में अवलोकन के दौरान स्वयं भरा।

आंकड़े एकत्रित करने के दौरान जितनी भी सूचना एकत्रित होती थी, सर से बीच-बीच में उन पर चर्चा भी होती रहती थी। एक दिन मैं सर से अवलोकन के कुछ अनुभव साझा कर रही थी। मैंने सर को बताया कि, प्रार्थना सभा में विभिन्न विद्यार्थी लय में आवाज से आवाज मिलाकर गाते हैं, लाइन में खड़े होते हैं और लाइन बनाकर चलते हैं, निश्चित मुद्रा में खड़े होते और निश्चित मुद्राएं बनाते हैं...।

ये विचार सर को काफी रुचिकर लगे और सर ने मुझे एमिल दुर्खाइम की पुस्तक 'मोरल एज्युकेशन' पढ़ने की सलाह दी। इस पुस्तक को पढ़ने से मैंने जाना कि कैसे शिक्षा बालकों का विधिवत सामाजीकरण करने की प्रक्रिया है जो उन्हें निश्चित तरीके की नैतिकता सिखाती है। इस पुस्तक को पढ़ने में भी संदर्भ एवं भाषागत चुनौतियां सामने आईं। साथ ही दुर्खाइम की संकल्पना 'सॉलिडेरिटी' आदि का अनुवाद जब मैंने 'एकजुटता' के रूप में किया तो पाठकों को यह समझाने के लिए कि यह किस प्रकार की एकजुटता है, मैंने प्रार्थना सभा के ही उदाहरण लिए। ये उदाहरण थे, आवाज मिलाकर गाना, निश्चित तरीके से खड़े होना, बैठना आदि।

भाषागत समस्याओं ने मुझे इस पक्ष की ओर भी सचेत किया कि हर भाषा की अपनी एक गरिमा और अपना एक संदर्भ होता है। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद की प्रक्रिया में बहुत बार शब्द के मूल अर्थ विकृत हो जाता है। यह समस्या उन विद्यार्थियों के लिए और भी गंभीर है जो अनुवाद की इस समस्या से होने वाली हानि के प्रति सचेत नहीं हैं।

अवलोकनों के आधार पर सूचना एकत्रित करने के बाद अगला बिंदु यह था कि इस सूचना का विश्लेषण किस प्रकार किया जाए। कुछ ऐसी कोटियों या श्रेणियों की आवश्यकता थी जो प्रार्थना सभा के माहौल की संस्कृति की विवेचना कर सकें। साथ ही ये कोटियां ऐसी हों कि तीनों स्कूलों में किए गए अवलोकनों में एक सामांतरता एवं समकक्षता भी बनी रहे। इस कार्य के लिए कुछ कोटियां अवलोकन से कुछ साझी थीम निकालकर बनाई गईं। इनके आधार पर यह देखा गया कि तीनों स्कूलों में इनका स्वरूप कैसा है।

इन कोटियों की विवेचना में साहित्यिक समीक्षा के दौरान पढ़ गए संदर्भों का प्रयोग किया गया था। कुछ कोटियां थीं:

- प्रार्थना सभा में निहित नीतिपरक तत्व (यहां दुर्खाइम के संदर्भ का प्रयोग किया गया)
- अध्यापकों की भूमिका (स्टेनहाउस का संदर्भ प्रयोग किया गया)
- विद्यार्थियों की भूमिका, आदि।

बी.एल.एड. के दौरान मैंने जॉन ड्यूई, कृष्णमूर्ति आदि चिंतकों के शैक्षिक विचारों के बारे में जाना था। उस समय ये चिंतक काफी खंडित रूप से पढ़े थे। लेकिन इस शोध को करने के बाद मुझे लगता है कि मेरे खंडित विचार यहां आकर पोषित एवं आपस में जुड़ पाए हैं। शोध के निष्कर्ष के दौरान मुझे अपने पिछले अनुभवों से सीखे ज्ञान की सीमाओं व उसकी प्रासंगिकता के विषय में पुनः विचार विमर्श करने के अवसर मिले।

शोध के द्वारा यह बिंदु प्राप्त कर लेने के बाद यह समझना भी आवश्यक है कि शोध के पहले विचार और जो मुझे अंत में मिले, क्या उनमें समानता है? क्या वे किसी रूप में भिन्न हैं? मुझे लगता है कि दोनों विचार पूर्णतः अलग नहीं हैं किंतु कुछ भिन्नताएं जरूर हैं। पहले के विचार ये थे कि किस प्रकार विभिन्न गतिविधियां अलग-अलग संस्कृतियां रचती हैं, लेकिन शोध से यह पहलू गहरे तौर पर उजागर हुआ कि समान गतिविधियां भी अलग-अलग माहौलों का निर्माण करती हैं।

साथ ही मुझे लगता है कि शोध के दौरान मुझे भटकाव व अपने विचारों को स्पष्टता से व्यक्त करने के जो अवसर मिले, उन्हीं के कारण शोध का एक नया पहलू सामने आ पाया। सामान्यतः हम शोध को एक संरचना व बंधे-बंधाएं निश्चित कदमों के रूप में देखते हैं। लेकिन शोध में प्रयोग होने वाली यह कसावट इसे नए-नए पहलुओं, नवाचार, सृजनात्मकता आदि की संभावना को न्यूनतम कर देती है।

हमें बहुत सी ऐसी पुस्तकें पढ़ने को मिलती हैं कि शोध को कैसे क्रमवार करना चाहिए और यह पूर्णतः गलत भी नहीं है क्योंकि शोध में व्यवस्था, शोध के काम को कुशल और सहज बना देती है। लेकिन शोध में भटकाओं व विद्यार्थी को अपने ढंग से विषय सामग्री तलाश करने के अवसर देना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। अनेक बार मुझे भटकाव समय की बर्बादी नहीं बल्कि जरूरी लगे। कई बार लगता था कि सब कुछ कितना आसान और व्यवस्थित होता यदि सर मुझे सीधे-सीधे 8-10 संदर्भ बता देते ताकि मैं उन्हें पढ़कर उसके आधार पर शोध का काम निपटा लेती। लेकिन सर के निरंतर प्रेरित करते रहने और मेरे विचारों को धैर्य के साथ सुनने के कारण ही मैं अपनी इस चुनौतीपूर्ण यात्रा को उचित दिशा दे पाई। ◆

पायल यादवः बीएलएड करने के बाद केन्द्रीय शिक्षण संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय से एमएड कर रही हैं। शिक्षा विमर्श के जुलाई-अगस्त, 2014 में इनका लेख 'स्कूलों में सैन्यीकरण' प्रकाशित हुआ है।

कृष्ण कुमारः जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान में अध्यापनरत हैं।